THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182259

UNIVERSAL
LIBRARY

हृदय-तरंग

श्रीरघुवरनारायण सिंह

प्राप्ति-स्थान

भारती-भवन, मुंगेर

श्रीलग्नवती पुस्तकालय, दलीप-महल, मुंगेर के लिये प्रकाशित।

Checked 1989

सर्वाधिकार लेखक के अधीन

प्रथम संस्करण—१०००

मूल्य—३॥)

बिहार-केसरी की दृष्टि में—

श्रीरघुवरनारायणसिंहजी, मुंगेर के प्रतिष्ठित और सुसम्पन्न कुल के साहित्यिक युवक है। आप एक हृदय-तरंग नामक गद्यकाव्य का सकलन प्रस्तुत करने आ रहे है। मैने उसे आद्योपान्त अध्ययन किया है और उसमे मैने उन विशेषताओ को पाया है जो साधारणतया साहित्यिको के लिये अलभ्य होती है क्योंकि उन्हे अपनी कीर्त्ति अपनी अभिरुचि पर निर्धारित कर साहित्य-जगत् के समक्ष स्मारक-रूप मे रखना है न कि व्यवसाय करना।

इस पुस्तक में शब्द-विन्यास, मनोरम कल्पनाएँ शास्त्रोक्त एवं वैदिक विचार मौलिक रूप से सुन्दर भाषा मे स्पष्ट हैं। यह पुस्तक अपनी कीर्त्ति स्वयम् बोलती है।

३१-१०-४७]

श्रीकृष्ण सिंह

श्रीलग्नवती पुस्तकालय, दलीप-महल, मुंगेर के लिये प्रकाशित।

Checked 1989

सर्वाधिकार लेखक के अधीन

प्रथम संस्करण—१०००

मूल्य—३॥)

बिहार-केसरी की दृष्टि में—

श्रीरघुवरनारायणसिंहजी, मुंगेर के प्रतिष्ठित और सुसम्पन्न कुल के साहित्यिक युवक है। आप एक हृदय-तरंग नामक गद्यकाव्य का सकलन प्रस्तुत करने आ रहे है। मैने उसे आद्योपान्त अध्ययन किया है और उसमे मैने उन विशेषताओ को पाया है जो साधारणतया साहित्यिको के लिये अलभ्य होती है क्योंकि उन्हे अपनी कीर्त्ति अपनी अभिरुचि पर निर्धारित कर साहित्य-जगत् के समक्ष स्मारक-रूप मे रखना है न कि व्यवसाय करना।

इस पुस्तक में शब्द-विन्यास, मनोरम कल्पनाएँ शास्त्रोक्त एवं वैदिक विचार मौलिक रूप से सुन्दर भाषा में स्पष्ट हैं। यह पुस्तक अपनी कीर्त्ति स्वयम् बोलती है।

३१-१०-४७]

श्रीकृष्ण सिंह

अन्तर्ध्वनि

जीवन में ईश्वरीय, दैवी, मानुषिक तथा आसुरी
अनुभूतियो का मिश्रित
समावेश
ही
ईश्वर निमत
हृदयस्थिति
मे
भावो का वैषम्य है
जिसे
पद्यात्मक गद्य में
मेरी
लेखनी ने मूल्याङ्कन किया
है ।

—रघुवरनारायण सिंह

लेखक

समर्पण

भौतिक जगत् के विभव-प्राङ्गण में
श्री
लक्ष्मीजी के
मंदिर
को
अन्तर्जगत् की वीणा से
झंकृत
करनेवाली
साहित्यिक अनुभूतियों
की
स्वामिनी
श्री
शारदा की
कृतज्ञता
में

—रघुवर

कृतज्ञता-ज्ञापन

इस गद्यकाव्य-कुंज के प्रसूनो को
साहित्य-देवता
के
चरणो पर
अर्पित करने मे
सहयोग
देनेवाले
श्रीशशिधर वाजपेयी 'आज़ाद'
के
प्रोत्साहन
का
आभारी
हूँ

—रघुवर

भूमिका

साहित्यानुरागी श्रीरघुवरनारायणजी का गद्यकाव्य-संग्रह "हृदय-तरंग" मेरे सामने आलोचनार्थ प्रस्तुत है। मैं इसे आद्योपान्त पढ़ गया हूँ, अथवा यों कहिये कि एक-एक प्रबन्ध का भलीभाँति अध्ययन कर गया हूँ। भाषा क्लिष्ट किन्तु रोचक, शैली गंभीर किन्तु भावुक और चित्र विराट् किन्तु मोहक होने के कारण मनन और चिंतन से काम लेना पड़ा। विचार करने के पश्चात् इस निर्णय पर पहुँचा कि प्रस्तुत संग्रह की आलोचना के पूर्व गद्य-काव्य की विषयवस्तु और उसकी रूप-रेखा पर प्रकाश डालते हुए उसकी एक निश्चित परिभाषा कर ली जाय जिसके द्वारा काव्यालोचन की कुछ कठिनाइयाँ दूर हो सकें।

गद्यकाव्य में काव्य की रचना छन्दमुक्त वाक्यों में की जाती है। यह ध्वनि 'गद्यकाव्य' के वाच्यार्थ से ही प्रस्फुटित होती है किन्तु इतने से ही पर्याप्त तुष्टि नहीं होती। जानकारी के लिये अभी बहुत कुछ चाहिये। श्रव्यकाव्य का प्रथम प्रभाव पाठक के साधारण ओज पर पड़ता है। बस, हमें इसी ओज के अनुसार गद्यकाव्य की कसौटी प्रस्तुत कर देनी है।

कवि की प्रतिभा से गद्यकाव्य-लेखक की प्रतिभा कभी भिन्न नहीं मानी जाती। प्रतिभा को सदा सत्य की ही खोज रहती है। कभी निष्काम योगियों की समाधि में, कभी सकाम भोगियों की मानस-मंजरी में और कभी विक्षिप्त मनोभावों के उद्वेलन में उलझ-सुलझकर जो कृति चिंतनशील लेखकों की बुद्धि से परिमार्जित होकर निकलती है उसीमें साहित्य-माधुरी का आनन्द प्राप्त होता है। इस आनन्द की प्रतिष्ठा को व्यवस्थित रूप देने के लिये काव्य के दो भेद कर दिये गये हैं। एक श्रव्यकाव्य, दूसरा दृश्यकाव्य। श्रव्यकाव्य केवल छन्दबद्ध पद्य में लिखा जाना चाहिये ऐसा अनुशासन अब मान्य नहीं रहा, उसे गद्य में लिखना कोई दोष नहीं है। इसी भाँति दृश्यकाव्य पद्य में भी लिखा जाना चाहिये। दोनों प्रकार के काव्यों का निर्माण जब से गद्य और

पद्य दोनों शैलियों में होने लगा उसी समय से एक तीसरी शैली भी निकली जिसे हम गद्यकाव्य कहने लगे। अब हमें सुविधानुसार मौलिक ढंग पर काव्य के दो भेद इस भाँति करना चाहिये कि एक को पद्यकाव्य और दूसरे को गद्यकाव्य कह सकें। इन्हीं दोनो के अन्तर्गत श्रव्यकाव्य एवं दृश्यकाव्य का समावेश समझ लें।

पद्यकाव्य और गद्यकाव्य दोनो ही में रूप, रस, अलकार, चित्र, अभिव्यंजन और अन्विति वर्त्तमान हैं, केवल पद्य और गद्य की शैली का ही अन्तर है। पद्य का रूप भावात्मक-रागात्मक रहता है और गद्य का रूप प्रबन्धात्मक-वर्णनात्मक रहता है किन्तु पद्यात्मक गद्य (गद्यकाव्य) में रागात्मक वर्णन के साथ-साथ परिपक्व विचारो का समर्थन अवश्य रहता है इसलिये अभिव्यक्ति और ध्वनि के प्रकार मे भी अन्तर पड जाता है। यदि केवल साहित्यिक कसौटी पर गद्यकाव्य के रागात्मक वर्णन को कसकर देखा जाय तो पद्यकाव्य से कहीं अधिक विशेषताएँ गद्यकाव्य में मिलेंगी। इसमें हृदय और बुद्धि के कार्य-क्षेत्र का विचार और दोनों के सामजस्य का दर्शन—ये दोनों दो वस्तुएँ हैं। इन पर अलग-अलग विचार होना चाहिये।

गद्यकाव्य में हृदय और बुद्धि का कार्यक्षेत्र एक होते हुए भी दोनों के अन्दर प्रश्नकर्त्ता और उत्तरदाता का जैसा समन्वय है। शकातुर हृदय प्रश्न करता है और बुद्धि उसका समाधान करती है। इसीलिये जिस भाँति कवि की सहजानुभूति पद्यकाव्य मे भाव प्रधान रहती है उसी भाँति गद्यकाव्य में लेखक की ˜ . . ˜ विचार-प्रधान रहती है। हृदय और बुद्धि की धर्म-भिन्नता के कारण एक ही क्षेत्र में कर्मप्रणाली के स्वरूप भिन्न-भिन्न दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु गद्यकाव्य के सामजस्य-दर्शन में हृदय और बुद्धि का सबद्ध पराक्रम यह सिद्ध करता है कि गद्यकाव्य की रचना सर्वथा बुद्धिप्रधान है और उसमे भ्रामक रूपो का स्थान नहीं, वरन् विचारों का पौष्टिक रस है।

पद्यकाव्य में जिस भाँति छन्दों की गति में शब्दों को व्यायाम कराया जाता है उसी भाँति गद्यकाव्य मे भावानुकूल शब्दों का प्रयोग तिरछा-आड़ा होता है। पद्यकाव्य में भाव-व्यजना का एक साधन जैसे अलकार

है वैसे ही गद्यकाव्य में विचार-व्यंजना का एक साधन भाषा-शैली का बाँकपन है। पद्यकाव्य में परिगणित व्यजन-युक्तियों द्वारा ही रस-निष्पत्ति होती है, किन्तु गद्यकाव्य में अगणित युक्तियों से काम लिया जाता है। पद्यकाव्य के आलंबन चित्रों को कल्पना द्वारा सँवारा जाता है और गद्यकाव्य के साध्य स्वरूपों को सत्य के निकट लाकर निखारा जाता है। आश्रय के रूप दोनों में अभिन्न रहते हैं। इतना कहने के पश्चात् हमें यहाँ यह सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि गद्यकाव्य रसवत् वाक्यों से सुसज्जित भावात्मक विचारों का संग्रह है किन्तु इतना अपेक्षित अवश्य है कि उसे साधारण गद्य से पृथक कहा जाय और छन्दबद्ध पद्य से भिन्न। इसकी पगडंडी गद्य और पद्य के बीच से होकर निकली है, यह भी सत्य नहीं किन्तु यह तो सत्य है ही कि वह गद्य और पद्य दोनों से समान दूरी पर एक भिन्न सृष्टि है, जिसके निर्माण में दोनों का समान योगदान है। इतना समझ लेने पर हम गद्यकाव्य की परिभाषा तक किसी भाँति पहुँच जाते हैं।

हमें कहना पड़ेगा कि गद्यकाव्य वह प्रबन्ध है जिसकी गद्य-शैली में रागात्मक भावों की अन्विति और रसवत् रचना में पद्यात्मक ध्वनियों का समावेश है। इसके अतिरिक्त भाषा का बाँकपन और विषय-वस्तु का विचारात्मक निरीक्षण भी है।

उपर्युक्त परिभाषा को ध्यान में रखते हुए हमें श्रीरघुवरनारायणजी के "हृदय-तरंग" की ध्वनियों पर प्रकाश डालना है। अपने 'प्रतीक्षा'-शीर्षक छायावादी प्रबन्ध में वह कहते हैं, "क्या वह मेरी कभी नहीं सुनेगा?" इस प्रश्न में शंकातुर हृदय की जिज्ञासा है। "उसे मेरे निकट मेरी सेवा में आना ही पड़ेगा।" इस भाँति कल्पना करते हुए वह बुद्धि के उस स्तर तक पहुँच जाते हैं जहाँ हृदय के प्रश्न को उत्तर मिल जाता है। शंका-समाधान देखिये—"वह तो सभी का है, फिर मेरा भी है।" यह प्रबोध बुद्धि की ही संज्ञा है। 'आश्वासन' इसकी ध्वनि है। 'तो' ने भाषा में बाँकपन ला दिया है और 'भी' से संतोष की प्राप्ति होती है। "वह तो स्वयं ही आवेगा" यह भविष्यत् विश्वास

उस प्रभाव से प्रेरित हुआ है जो प्रेमी की कामना का वशीकरण-मंत्र है। "मेरा वह होगा, मै उसका होऊँगा।" यह ध्वनि प्रतीक्षा की है।

देखिये 'पहेली'-शीर्षक गद्यकाव्य में—"आँखे खुलीं—देखा, एक वृहत् संसार।" पहली अनुभूति 'वृहत्' शब्द में निहित है। 'वृहत्' में 'चमत्कार' का व्यंग्यार्थ है। इस चमत्कार में कुछ नही, एक भ्रमजाल के अतिरिक्त। क्यों न फिर इसे पहेली कहा जाय! शीर्षक का प्रतिपादन व्यग्य से ही हो गया।

श्रीरघुवरनारायणजी के गद्यकाव्य, प्रकृति से तो गद्य हैं, किन्तु अपने गुणों से वे सर्वथा पद्य ही हैं। 'क्या हुआ!'—शीर्षक गद्यकाव्य की शैली और उसकी माधुरी देखिये—

"प्रकृति के अनुराग से विकसित फूलों के मधुर सुवास से सुरभित हृदय में चुभ जानेवाले समीर के प्रवाह से ही क्या हुआ जब कि अन्तरात्मा में ही सुरभि ठहर न सकी।" इस अलकृत वाक्य में काव्यरस भरा हुआ है। 'हृदय में चुभ जानेवाले समीर का प्रवाह' कल्पना को किस उद्यान का सौरभ पिला गया, पाठक स्वय रसास्वाद करें।

"तुम और तुम"-शीर्षक गद्यकाव्य में 'पति-पत्नी' का भावुक कथन सपुटित है। पुरुष का स्त्री से कहना कि वह मन को ध्यानावस्थित बनानेवाली साधना है, अत्यन्त [illegible] है, काव्य है किन्तु गद्य में। स्त्री का पुरुष के प्रति यह विचार कि वह शृगार का सौरभ एवं भाल का सिंदूर है, कितना सतीत्व-सूचक है! इस गद्यकाव्य मे सत्ययुग के नर-नारी जीवन की झाँकी है।

श्रीरघुवर बाबू ने अपनी विशिष्ट गद्यकाव्य-शैली में कहानियाँ और जीवनियाँ भी लिखी हैं। वह आज कोई एक वर्ष के पूर्व से एक वृहत् रचना मे लगे हुए हैं। इस रचना का नाम 'मानव-दर्पण' रखा गया है। इसके अन्दर जिन जीवनियो का मूल्याकन हुआ है उनमे गद्यकाव्य की ही भाषा को प्रश्रय मिल पाया है। 'हृदय-तरग' में एक कहानी आयी है जिसका नाम 'परिवर्त्तन' है। धनाढ्यों में राष्ट्रीयता का अभाव नहीं—यही उसकी अन्तर्ध्वनि है। कहानी-कला के अनुसार उसका कथा पक्ष बहुत ही शुभ्र है और समाप्ति ओजस्वी निर्णय पर हुई है।

प्रस्तुत गद्यकाव्य-सग्रह मे कोई पैतीस गद्यकाव्य चित्र हैं। प्रत्येक शीर्षक का प्रतिपाद्य विषय भिन्न है और भाषान्तर्गत सस्थान भी भिन्न हैं। प्रत्येक विचारपूर्ण रचना मे आनदप्रसूति के साथ उपदेश की भी व्याप्ति है। तरगित मनोवेगो के साथ प्रत्यक्षतः गौण वृत्तियाँ भी प्रधान रूप धारण कर वहिर्गत हो गयी हैं जिनका साहित्यिक चरम-लक्ष्य जीवन को सत्यान्वेषी बनाना है।

श्रीरघुवरनारायणजी की ये सभी रचनाएँ सत्याभिमुखी हैं। मस्तिष्क में सत्य का प्रवेश करती हुई कवित्व शक्ति द्वारा हृदय मे बैठ जानेवाली इन्द्री अपनी विशेषताओ के कारण ये अमर कृतियाँ ख्याति-प्राप्ति के अतिरिक्त भावनातंतुओ मे नवीन बल का सचार भी करेंगी। ऐसा अपना विश्वास है।

शशिधर वाजपेयी "आज़ाद"

अनुक्रमणिका

विषय			पृष्ठ-संख्या
प्रतीक्षा			१
पहेली		...	३
क्या हुआ			५
तुम और तुम			७
एक अभिलाषा			६
उच्छ्वास			११
स्मृति का अभिशाप		...	१४
मै			१६
तुम			१८
तू			२०
उपालंभ			२२
आभास			२४
शान्ति			२६
मनुष्य और संसार			२८
प्रेम			३०
विरह			३२
आशा			३४
प्रतिशोध	.	...	३६
तू और प्राणी	..	.	३८
मृत्यु	...	. .	४०
परिवर्तन [कहानी]	....	..	४२
वसन्त	....	..	५२
हृदय की देवी	..		५४

पथिक .. ...
शिशु-जन्म ... ...
शुभकामना ... ..
असार जीवन की सार्थकता ... ...
ॐ .. ...
उस ओर .. ...
क्यों नहीं मृत्यु ही— ... .
व्यर्थ का प्रयास ... ...
सुख का रूप ... .
प्रायश्चित्त ... .
स्मृति या विस्मृति ....
वर्तमान दशा ... . .

—o—

हृदय-तरंग

प्रतीक्षा—

मैंने
अपनी आत्मा की आन्तरिक प्रेरणा के आवेश के कारण
उसकी अन्तर्गत धारा द्वारा प्लावित ध्येय की प्राप्ति हेतु
अपने जीवन का प्रत्येक क्षण
उसकी इच्छा पर ही न्योछावर कर रखा है।

क्या वह मेरी कभी नही सुनेगा ?
अभी तक निर्द्वन्द्व भाव मेरा यही रहा है,
उसे मेरे निकट
मेरी सेवा मे आना ही पड़ेगा।
हाँ !

उसके लिये उत्कट इच्छा
अदम्य अभिलाषा
सम्पूर्ण दृढ़ता से
अपने को उसके लिये ही जीवित मानना पड़ेगा।

वह तो सभी का है, फिर मेरा भी है!

केवल आन्तरिक इच्छा की बौछार ही उसे प्रिय नहीं
उसे और भी कुछ प्रिय है—मैं भी उसका प्रिय हूँ।
मुझे गहराई के अतलगर्भ तक पहुँचना है।
वह तो स्वयं ही आवेगा,
चूमेगा,
आलिंगन करेगा—
मेरा वह होगा, मैं उसका होऊँगा।

परमात्मा! उसी शुभ घड़ी की मुझसे प्रतीक्षा करा!

—o—

पहेली—

मैं
वयस्क हुआ
यौवन ने अपनी छटाएँ प्रदर्शित की
आँखें खुलीं
देखा
एक वृहत् ससार ।

प्रकृति देवी अपने रङ्ग में फूली नहीं समाती थी ।
युवक-युवतियों के जोड़े
प्रेममय किलकारियाँ मारते झूम रहे थे
प्रौढ़ अपने ही विचारों में मग्न थे

वृद्ध अपने जीवन की अन्तिम घडी मे भी जीने की अभिलाषा रखते थे
सम्पत्ति-संपन्न व्यक्ति अपनी सपन्नता के मद मे चूर हो रहे थे
और
भारत-माँ अपने सतति-प्रसूनो को मुरझित देख
उनके दारिद्र्य पर सौरभ रहित दीख पडती थी ।

मन-मयूर नृत्य करना भूल-सा गया ।
मै कुछ अपनेपन में खोया-सा बैठा था कि एक
आवाज सुनाई दी ।
ध्यान भंग हो गया
आँखें खुल गयी किन्तु हृदय-कपाट न खुला । अस्तु,
ज्ञान शून्य ही रहा
अचेतनता मे कुछ भी पता नही चल सका ।
ध्यान और चेतना के सयोग की चेष्टा की,
चेष्टा स्वय पहेली बन कर रह गयी ।

—०—

क्या हुआ—

संसार के
इस हरे-भरे उद्यान से क्या हुआ,
जब हृदय-पट पर माधवी के सौरभ ने
अपनी मादक छाप डाली ही नहीं !

प्रकृति के अनुराग से विकसित
फूलों के मधुर सुवास से सुरभित
हृदय में चुभ जानेवाले समीर के प्रवाह से ही क्या हुआ,
जब अन्तरात्मा में ही सुरभि न ठहर सकी !

गंगोत्री से प्रवाहित
गंगा की पवित्र धारा के किल्लोल से निकली
कलकल ध्वनि से कर्ण-कुहरों को
पवित्र कराने ही से क्या हुआ
जब मन-धारा-प्रवाह का स्वरूप ही अपवित्र है !
संसार में मनुष्य-रूप धारण करने से ही क्या हुआ
जब कर्त्तव्य को न परखा
न मनुष्य का आवरण ही धारण किया !
सासारिक भोगविलास
एवं माया-जाल से
विरक्ति ही धारण करने से क्या हुआ
जब उस निराकार के
अनन्त गुणगान मे
अपना सर्वस्व अर्पण न कर सका !

—०—

तुम और तुम—

तुम स्नेहमयी मूर्ति हो
प्रेममयी देवी हो
हृदय को सरस बनानेवाली रसधारा हो
मन को ध्यानावस्थित करनेवाली साधना हो
नन्दनकानन की माधुरी को लजा देनेवाली कामिनी हो
तुम हिम समान उज्ज्वल एवं निर्मल हो
कलामंदिर की आलंबन-मूर्ति हो
हर अवस्था में जीवन-संगिनि हो
और
हो तुम हमारी श्री, गृहदेवी जिसपर सांसारिक सफलता सारी निर्भर है।

तुम कठिन से कठिन तपस्या का साधन हो
बुद्धि हो
ज्ञान का केन्द्र हो
इस नश्वर शरीर की शक्ति हो
यथार्थ मे तुम्ही पवित्र गंगा की पावन धारा हो जिसमे नित्य
स्नान कर मन पवित्र होता है।

तुम
सासारिक पहेलियो के सुलझानेवाले
हृदय के एक मात्र अवलंब
हमारे इष्ट
हमारे सभी व्रतो के स्वरूप
हमारे पूर्णाङ्ग
सुख के सखा
दुख के भागी
चिर सगी
हमारे प्रेम के पात्र
हमारे शृंगार के सौरभ
भाल के सिदूर
रसिकता के मादक प्रसून
हमारे उद्यान के कल्पतरु
हृदय-मंदिर के पुजारी

और
हो तुम हमारे सुख-सहवास मे जीवन व्यतीत करने के इच्छुक
यथार्थ में
तुम्ही हमारे पावन व्रत के अनुष्ठान के मंत्र हो।

—०—

एक अभिलाषा—

तेरी
महिमा अपार है।
तेरी परीक्षा की कसौटी भी विचित्र है, कठिन है, परन्तु सुखद है
जिसमें सासारिक सुख अनन्त बन बैठा है।

कौन कह सकता है कि तुझमे और मुझमे कोई अन्तर है!
अन्तर हो भी क्यो?
परन्तु फिर भी
मेरी जीवन-स्मृति तू समझने को बाध्य रहता है।

विचित्र तेरी लीला है
विचित्र है तेरी सर्व-व्यापकता।

इसी मूलकारण ने
ससार को तेरी लीला और महिमा का आखेट बना रखा है।

संसार स्वयं एक नाट्य है
जहाँ पात्रो को कर्मानुसार अभिनय मे भोग भोगने पडते है।
परन्तु तू क्या है ?
कर्त्तव्य और औचित्य क्या है ?
क्या इन्हें कोई जानता भी है ?
सभव है कोई हो भी, कैसे कहूँ ?

जितने प्रकार की वस्तुएँ देखने मे आयी, रहस्ययुक्त ही निकली
क्या सामयिक-असामयिक, क्या सुखद-दुखद इत्यादि !

परन्तु आह !
तेरी पथ-प्रदर्शक रीति, समझकर अनुगामी बनना
किसी साधारण खिलाडी का काम नहीं।
क्या ऐसो ही के लिये ज्ञान का भंडार निहित है ?

मुझे भी अपनी कसौटी पर
खरा निकलने के साधन दे जिससे
सासारिक पहेलियो को समझता हुआ
तेरे निकट अपने को पाऊँ।
तू और मै का अन्तर भूल बैठूँ।

मेरी हृदय-तंत्री के तारो मे
तू और केवल तू ही तू झंकृत होता रहे।

—०—

उच्छ्वास—

भगवान अरुणदेव
पश्चिम पयोधि को सुवर्णमय बना
व्योम को कुमकुमी लाली से सुशोभित करते हुए
सारे ससार को अन्धकारमय बनाने हेतु
अपने मन्दान्वित मुखडे को लज्जायुक्त अंचल में छिपाने को
अस्ताचल की ओर
तीव्र गति से
अग्रसर हो रहे थे ।
मद-मद शीतल समीर
प्रकृति-पुष्पों से सुरभित हो

प्रकृति-देवी के कोमल हृदय को
आनन्द के मृदुल हिल्लोलो से
व्यथ कर रहा था
अपार आनन्द का समय था
दृश्य भी हृदयग्राही था।

परन्तु
मैं हृदय-व्यथा से विदीर्ण हो रहा था
उच्छ्वास पर उच्छ्वास उठ रहे थे
जैसे कोई झझावात हो
जिसमें छिपी हो अनल-राशि।

चन्द्रदेव
अपनी पूर्ण आभा से प्रोद्भासित होते दिखाई पडे
मानो मेरी व्यथा को दूर कर
मुझे शान्ति के निकट पहुँचाने को ही
ऐसा सुन्दर रूप धारण कर
मेरे हृदय को आनन्द से प्रस्फुटित करने के लिये ही
अपने सम्पूर्ण शृंगार मे लुभावने बन
व्योम मे खिल पडे हो
सम्भवतः व्योम भी
सितारों को इसी कारण निर्मल रूपधारण कराये
उसकी ताक में बैठा था।

परन्तु
वाह्य जगत की प्रसन्नता में
आन्तरिक जगत की आन्तरिक व्याकुलता कहाँ!

किन्तु, कौन ऐसी प्रसन्नता की खोज करता है ?

सृष्टिकर्त्ता ने
इसी वास्तविक सत्य के अवलोकनार्थ
मनुष्य मे ज्ञान-चक्षु का निर्माण एवं सृजन किया है
बुद्धि, ज्ञान, विवेक-शक्ति आदि का सचय किया है
अपने अस्तित्व का ध्यान न रख
मनुष्य अपनी इच्छा-पूर्ति के लिये क्या नही करता !
मनुष्य अपनी इस प्रकृति मे परे क्यो नही रहता, भगवान !
यही तो मेरे उच्छ्वास का कारण नही ?

स्मृति का अभिशाप—

मेरी प्रेम-सरिता,

सालिंगन चुम्बन ।

ईश्वरीय गति भी विचित्र है, प्रफुल्ल है, भयावनी है
जिसमे संतोष भी है, प्रसन्नता भी है और है संतोषी के दुख भी ।

तुम्हारी रस-धारा में कुछ ही दिवस के उपरान्त बहने को मेरा भाग्य उदय हुआ था और असीमित आनन्द मिला था किन्तु थोडे समय तक उसमें स्नान कर सका—पुनः वही व्यथा, वही पुरानी बात जिसमें बात-बात पर तीक्ष्ण उच्छ्वासो का उठना, उसी रूप से हृदय का विदीर्ण होना इत्यादि भरे हुए थे । मै विह्वल हो उठा उसी समय जबकि इस पवित्र एवं निर्मल धारा से निकल जाने को बाध्य किया गया ।

तुम्हारी प्रणय सरिता के स्नान को भूल जाने की चेष्टा करता हूँ परन्तु भूलने के स्थान पर स्मृति किंकर्त्तव्यविमूढ़ बना डालती और मैं मूर्त्ति बन कर रह जाता। तुम मेरी पुतलियों में नाच जाती हो, कभी थोड़ी देर ठहर जाती हो, कभी सान्त्वना देकर रह जाती हो। जब मैं हार्दिक कुतूहल से तुम्हे प्रणय के बाहुपाश में कसने के लिये कर फैलाता हूँ, तुम भाग जाती हो और वक्षस्थल पर पलटनेवाले हाथों का झोंका उस समीर को हृदय तक बहा लाता है जो पतझार में वासन्ती कलिका के कोमल दलों को नहीं छू पाता। मैं व्यथित हो उठता हूँ। केवल बीती हुई घड़ियों की मृदुल स्मृतियों में विलीन हो जाता हूँ।

विचित्र दशा बन जाती है। पावस आता है तो हृदय में हूक सी उठने लगती है, शरद में तुम्हारे आलिंगन की सुषम उष्मा स्मरण हो आती है, वसन्त में तुम्हारे लिये हृदय-कोकिला कूक उठती है किन्तु तुम ग्रीष्म के सूर्य का-सा दूर-दूर से ताप पहुँचाना ही अपना धर्म समझती हो। तुम मेरे हार्दिक मर्म की मार्मिकता क्यों जानने लगो—तुम तो अपनी स्मृति के प्रवाह में मुझे बहाते रहना ही जानती हो।

तुम्हारे ताप का झुलसा हुआ,
पतझर का मारा हुआ,
उद्यान का मुरझाया हुआ,
डाल से टूटा हुआ,
एक फूल—
तुम्हारी उपेक्षित स्मृति का
भूला हुआ—
"रसिक"

मैं—

हार्दिक इच्छा और
अटल अभिलाषा पर
जब जटिल समस्याओं की पूर्ति नहीं हुई
वरन् उसकी ही दयादृष्टि एवं अनुराग पर
धैर्य का प्रतिपोषण किया गया
तो
भाग्य-विधाता ने गृह-निशा को
ऊषा की भाँति अरुणिम बना दिया।
प्रेम
अनुराग

आनन्द एव हुलास की शहनाई बजने लगी
इस आनन्दोत्सव से परे
दूर पडा मैं विस्मृति की झपकियाँ ले रहा था।

कौन जानता था !
इस वसन्तोत्सव मे
मानुषिक एवं ईश्वरीय कोप
अदृश्य रूप से
प्रगतिशील हो रहा था !

रस है
रसपान की सामग्री भी
किन्तु भविष्य अधकारमय।
हॉ,
'सर्वत्र अति वर्जयेत्' का
विचार ही जो नही था।

अब केवल नीरसता का ही राज्य—आह !

—०—

तुम—

तुम्हारे नाम में अमृत है
इसलिये
मृत्यु का भय मुझे नही सताता।
तुम्हारे वाक्य में जीवन है
इसलिये
तुमसे विलग होना नहीं चाहता।
तुम्हारे उपदेशो मे स्वर्गपुरी है
इसलिये
अधिक धर्म-संचय की चाह भी नही।
तुम्हारे नाम में पवित्रता है
इसलिये

मुझे तपस्या की आवश्यकता कहाँ !
तुम्हारी आत्मा दयालु है
इसलिये
मुझे प्रत्येक द्वार को खटखटाने की आवश्यकता नही ।

तुम मुझमे छिपे हो
मेरे अन्दर सभी कुछ है
तुम हो
इसलिये मै इच्छारहित हूँ ।

परन्तु तुम कहाँ हो ?
किधर हो ?
अच्छा,
देखना है कबतक
तुम छिपे रहोगे
नाथ !

—o—

तू—

स्फूर्तिमय
आभासहित
प्रस्फुटित
आशा-पुष्प के सौरभ से सुवासित
समीर के चपल हिलकोरों ने
हृदय के उल्लास को झकोर
आशका के विचार-वृक्ष को
समूल उखाड फेंका था।
किन्तु
अभी तक भावी के आशा-बीज ने
जीवन-माधुरी की पृष्ठभूमि पर

भावो का अंकुर नही फेंका ।
ऐसा होता ही क्यों
जब कि मनुष्य स्वय
अपनी शक्ति की अहमन्य आभा पर फूला नही समाता
और सामयिक विपत्तियो पर भगवान को कोसे विना नही रहता ।

आहा
यह तेरी कैसी लीला, भगवान !
तेरा परीक्षा-सोपान इतना दुर्गम !
साधारण व्यक्ति के लिये
तेरी दूरावृत-स्थिति का पहचानना
तेरी रीति-नीति का जानना
क्योकर सुलभ हो !

मै तो स्वय ही
अपने निमित्त
सर्वदा अधकारपूर्ण परिस्थितियो मे
अनभिज्ञ-सा
रहता आया हूँ
क्या जानूँ
इतना काल कैसे व्यतीत हुआ
और अब कैसे बीत रहा है ?

हाँ !
मानता हूँ
निस्सदेह मानता हूँ कि—
तू ही सच्चा पथ-प्रदर्शक है
तू ही अतरग है, मित्र है
और वास्तव मे तू ही वाछित लक्ष्य है ।

उपालंभ—

विचित्र है तू,
तेरी इच्छा और तेरी प्रवृत्ति,
अगम्य है तेरा आदर्शपथ !
तू वही—
जिसे समझ पाना
किसीके लिये भी
एक जटिल एव अत्यन्त कठिन
समस्या अवश्य है ।
तेरे होठो की मधुर मुस्कान को
कुछ ही क्षणों के लिये सही
किन्तु इन नश्वर खिलौनों ने

अपने मृदुल अधरो मे
कभी-कभी रख पाया है ।

अधिकतर तो तू मुरझित ही रहती आयी है
यह तेरी कैसी दशा माँ !

तेरी गोद के ही पुष्प तो
ससार को एक सुरभित उद्यान का रूप देते आये है !

हाँ, तब और अब मे इतना अन्तर अवश्य था ।
तूने अपने यौवन-काल में उन्हें जगलों, कदराओ
और गुफाओ आदि में आश्चर्य का पाठ दिया था किन्तु
आज तेरी वही सतान अकर्मण्यता एवं विलासिता
का पाठ पढ़ने में लज्जित होती भी नहीं दीख पडती ।

अब है
तेरी जर्जर अवस्था ।
तू वृद्धा हो गयी ।
अब तेरी यह सकुद्ध प्रकृति सुहानी नही लगती ।
तुझे तो अब परिवर्त्त ही शोभेगा ।
फिर उसी अतीत की झाँकी, माँ !
फिर वही मद-भरी आभा !
नसो के रक्त में
भर दे अपने वही आदेश और पाठ ।
ससार जिसमें फिर तुझे जगद्धात्री पुकार उठे ।

भारत-माँ !
समय परिवर्त्तनशील है
फिर तू भी तो परिवर्त्तन की अधिकारिणी है !
माँ ! फिर वही शिक्षा दे
फिर से वही पाठ स्मरण करा, माँ !

आभास—

परमात्मा ने
उस समय को
उस दृश्य को भी
दिखला ही दिया
जिसने हृदय में एक विचित्र चित्र अंकित कर दिया—
सभवतः वह अटल ही रहेगा।
रहे, ऐसा ही!
क्या पुनः भी कोई ऐसा ही समय उपस्थित होगा,
जिसे ससार भयंकर कहेगा?

वह अवसर था, बेजोड
उस दिन की संध्या थी भावपूर्ण

किसी अज्ञात वेदना की
हृदय के अन्तरतम प्रदेश में
अदृश्य रूप से
उत्पत्ति हो रही थी
जिसे मै न समझ सका था।
क्या यह माया देवी का अभिशाप नही ?

हृदय में धडकन थी
आँखो मे असतोष के अश्रु थे
जो भावुक मोतियो में ढलकर कपोलों पर ढुलक पडे।
जीवन-नौका करुणा-सिधु के थपेडे खा रही थी
तट की आशा बँधी हुयी थी
कुछ उधेडबुन थी, कुछ प्रसन्नता भी
जाने क्या-क्या भावनाएँ आ-जा रही थी
इन विचारो के द्वन्द्व मे जानें और कितने थे
अकेला मै ही नही !
मेरे हृदय-सागर में
स्वातत्र्य के वेग उमड रहे थे
जिसकी उथल-पुथल ने
आँधी-पानी को सह जाने की शक्ति प्रदान की।
यह कौन-सा आभास था जो साहस बन गया !

देखना ऐ आभास !
तुम अभिशाप न बन जाना !
वेदना के कारण न बन जाना !
मुझे जड न बना देना !!
वरन् पथ-प्रदर्शक ही बने रहना !!!

—o—

शान्ति —

अहा !
कैसी है तेरी लोकप्रियता ?
सर्वत्र अधकार !
तुझमे रमी है मस्तिष्क की स्वतंत्रता,
हर प्रकार का सतोष,
हृदय की पवित्रता,
ज्ञान की महत्ता ।
आधिभौतिक रहस्य भी तो तेरे ही निराकार मे है ;
तूने अपनापन ही निभाना सीखा है !
तेरी दीक्षा भी यही है ।
अपनापन ही तेरी जननी है और उसी मे है तेरा निवास ;

सुननेवालो को
तेरे समान सुलभ वस्तु
कोई सुनन मे नही आती
परन्तु क्या तू इतनी सुलभ भी ह ?

नही ! कदापि नही !
तू ही तो ज्ञान की दात्री है
ज्ञान ही तेरी कल्पना है
तू भला दृश्य-पथ को सुगम क्योकर होने देगी !
ज्ञान तो दृश्य-पथ मे नही !

तुझे अपना लेना ही तो मानव-जीवन मे मनुष्यता है ।
किन्तु तू ही ससार के लिये एक उलझी हुयी समस्या है ।

धन्य है तू !
कितने ही हाथ मलते चले गये किन्तु तू हाथ न लगी ।
जाने कितने तेरे आकाक्षी सिद्ध ज्ञानी तक हो गये
किन्तु तू किसी न किसी अश मे अप्राप्य ही रही ।

मै तो फिर भी यही कहूँगा कि तू ही केवल सुखद ह
जो ज्ञान की सिद्धि मे
निस्स्वार्थ सतोष में
कर्म-फल की इच्छा के त्याग मे
और अनासक्ति-योग मे प्रतिष्ठित है ।
बडी सुषम
बडी सौम्य
बडी शान्त है तू शान्ति !!

मनुष्य और संसार—

सृष्टिकर्त्ता यही मनुष्य !
उसका सृजन, यह ससार ।
ससार ! तू शिक्षक फिर कैसे बन बैठा ?
मनुष्य ! तू ज्ञानग्राही होकर भी शिष्य ही बना रहा !
क्या इस सृजन-नीति का
उल्लघन सहज भी है ?
परन्तु कैसी हीन अवस्था दोनो की !
एकता भी कितनी घनिष्ठ !
एक के विना दूसरे का अस्तित्व नहीं ।

यद्यपि ज्ञान प्राप्त होता है ज्ञानग्राही को ही ;
संसार से मनुष्य को ही,

फिर भी मानुषी अहता देखो !
मनुष्य ससार को निम्न ही देखता।
ससार ! तू इस अपमान को सहन करता है,
मनुष्य को प्यार करता है
उसकी सेवा करता है
उसकी पातकी प्रवृत्तियो पर ध्यान नही देता
तू कितना उदार है !
सहनशीलता और महानता की यही तो पराकाष्ठा है।

तेरा परिचय ? तू एक नाट्यशाला।
अपने रगमच पर मनुष्य को चढाना और उतारना
यही तेरा काम।
हाँ, पर, तेरी नाट्यशाला में
मनुष्य जब अभिनय करने के लिये
अभिनव रूप धारण करता है
तो वह अपना परिचय भूल जाता है।

आँखो के समक्ष तू कर्त्तव्य-पथ बिछा देता है।
जानता भी है कि मनुष्य केवल अदूरदर्शी है।
परन्तु मनुष्य तेरे आदेश की अवहेलना करता है।
तू ज्ञान-ज्योति देता है और
वह तिमिर की प्रच्छद ओढ़ लेता है।
तू आरूढ़ि के नियत्रण तोडता है और
वह उसकी कडियाँ जोडता है

तुझ निस्स्वार्थी की ज्योति ही ज्ञान का प्रकाश है।
तू पथ-प्रदर्शक है।
तेरे सकेत मनुष्य-जीवन के साधन है।

—०—

प्रेम—

तू है,
तो तेरी भयानक पहेलियाँ भी हैं।

तुझे सभी जानते
यद्यपि तू दृष्टिगोचर नहीं।
सर्व-व्यापक होकर भी
तू कहीं नहीं।
निःसहाय किन्तु शक्तिवान है तू।
तुझमे एक टीस है,
उसे क्या ताडना कहूँ ?
कहा नहीं सकता,

तुझमे न्याय है अथवा नहीं !
तुझसे सब ज्ञात,
तू सबसे अज्ञात ।
तू सयमी और सहनशील है,
मौन व्यग्य सुनने का अभ्यासी भी ।
तुझमे कटु अनुभव है भावनाओ के ।
तुझे ससार अधा कहता है,
किन्तु तू अधकार मे भी देखता है ।
तू ठगता नही वरन् ठगा जाता है ।
तू स्वय निष्ठुर नही तेरा व्यवहार जो कठोर है ।
तू शकाग्रस्त नही—तेरी परिभाषा जो शकित है ।
तू है ही एक भयानक पहेली ।

तेरा आवरण—भक्ति का पूर्वरूप, भक्त का हृदय !
सुख और दुख का तू द्वन्द्व नही—उनका विचित्र मिश्रण !
तू असभव को सभव बनाता हुआ,
विरह मे मिलन की समवेदना भरता है ।
तेरी पराकाष्ठा में योगियो की चेतना, चेतना मे आरूढ़ि,
आरूढ़ि मे भक्ति है ।
तू बहुत ही सूक्ष्म है ।
तू स्थूल भी है ।
तेरी स्थूलता मे सौदर्य है, सौदर्य मे शृंगार और
शृ गार मे वियोग भी ।

तू आत्मा को पवित्रता की पराकाष्ठा पर ले जाता ।
उसे पूर्णता की प्राप्ति होती किन्तु तू तो सदिग्ध ही रह जाता ।

तेरा प्रत्येक आधार ग्राह्य—तेरी अवहेलना असंभव ।
तुझसे सभी पीडित है परन्तु प्रसन्न है ।

क्या यह एक भयानक पहेली नही ?

विरह---

तेरी
परिभाषा असंभव—
तेरी हर प्रणाली विचित्र ।
तेरा गान ही रुदन !
तू एक कोप !

तुझमे जो व्यथा है
वह भी तो एक मायाविनी के रूप मे !
तुझमे शान्ति है किन्तु भ्रान्ति के रूप मे !
तेरी झंकार तो बडी ही हृदय-विदारक है ।
तू नश्वर नहीं यद्यपि सृष्टि का नियम ही नाशवान है

इसलिये निराकार रूप में तू हर आकार की अवहेलना करता है।
तुझसे जो भी ग्रस्त हुआ, उसके रूप मे तू साकार।
कोई विरही की आकृति भी तो देखे!

तेरे तेज मे एक ज्वाल है
तेरी भस्म—शीतल!
तेरे रूप मे—माया।
तेरी आकृति—उदासीन।
तेरी प्रकृति—सिक्त।
तू शान्ति एव अशान्ति का सुखद मिश्रण ही तो!
तू इतना बलिष्ठ है कि तुझसे किसी प्रेमी को छुटकारा नही मिलता।
तेरे बाण अचूक, उनका लक्ष्य हृदय और
परिणाम—सन्यास, जिसका नाश नही।
तू प्राण—तेरी परिभाषा निस्सीम।

—o—

आशा—

तुझमें
केवल क्रूरता का ही वास।

तू यदि संसार में न होती—
तेरी प्रतिक्रिया भी न होती।

निराशा तो होती ही नहीं।
भविष्य की चिंता तक न होती।
विश्व का प्राकृतिक उद्यान फूलता और फलता
उसमें हेमन्त, वसन्त और पतझर

अपने-अपने क्रम से आते।
ऊसर में उपज की खोज न होती,
न कृषि को पावस की प्रतीक्षा।
सुख होते और दुख भी,
प्रकाश की सीमा होती और मलिनता निस्सीम न होती।
आभा की राह में आलोक की आवश्यकता न पडती।
तेरी मादक घडियाँ न होती और न रात में तारों की
गणना ही।
दुराशा की क्रूर आग से सभी बच जाते।

जानती है और क्या होता—

किसीको किसीसे भी ईर्ष्या न होती।
मनुष्यता का विकास होता।
तृप्ति होती, हृदय में संदेह न होता
अपनापन का राज्य होता, प्रसन्नता होती।
ईश्वर की भक्ति होती, स्वर्ग की इच्छा से दूर।
कोई भाग्य को न कोसता।
तू यदि ससार में न होती तो—

संसार में रोदन का विषय ही अज्ञात रहता।
जीवन-पथ के सहचर सहानुभूति करते,
हृदय विक्षोह-हीन होता—चाह से दूर।
सासारिक प्रवृत्तियाँ
कल्याण-मार्ग की प्रदर्शिका-दीपिका बनती
जगत निराशा-रहित होता
एक-दूसरे का होता—सभी सुखी रहते।

आशा !
तुझमें क्रूरता का ही वास।

—o—

प्रतिशोध—

निहार रहा था मैं उसकी ओर
देखता ही रहा—
अंकुर उगा, फूला, फला, प्रस्फुटित हुआ
वह आभा लिये हुए—
उन्मादकता थी, पागलपन था
परन्तु पावस से सिक्त—
वाह री ! विहार-केलि की अलबेली रीति !
तुझे मादक उत्तेजना ले आती, तू उन्मद बन बैठती—
एक सनसनी मचा देती और विहारेच्छा में प्रबलता आ जाती—
उमड पडता मैं

पर, आहें भरकर कुछ ऐसे सोच में पड जाता
मानो विरहाग्नि से क्षार-क्षार हो रहा हूँ।

तीव्र मनोवृत्तियाँ लिये तेरा समीर मेरे वसन्त को
झुलसाने के लिये आ जाता
मै परवश बन बैठता।

तेरा रगरूप जितना मधुर नही उतनी तीक्ष्ण तेरी
चितवन और वह व्यग्यभरी मुस्कान जो हृदय की
सुषुप्ति को दूर करके उसमे विगत की करुण स्मृतियाँ
भर देती।
इन स्मृतियो में उस विश्वासघात की झलक होती
जिसका आखेट मेरा जीवन।

हृदय हूक उठता। प्रतिशोध की भावना भर जाती
किन्तु मै मूक ही रह जाता।
उपेक्षित की उपेक्षा ही—प्रतिशोध!

—o—

तू और प्राणी—

रस तथा नीरसता—
क्या ही ईश्वर की देन है।
उसकी नीति तो देखो! यही तो उसका वैचित्र्य!
प्राणिमात्र
उसके सरस वाणो तथा नीरस लक्ष्यों से
परिचित रहता हुआ भी वक्षस्थल को वेधित कराने के
लिये विवश हो जाता है।
वैषम्य का यही तो ध्येय!
माया की प्रचण्ड अग्नि-द्वारा भस्मीभूत प्राणी
अपने अस्तित्व को क्षार में ढूँढता है।
उसके समक्ष पार्थिव संसार की निर्मम अनुभूति रहती है।
भविष्य अंधकारमय प्रतीत होता है।

अपनेपन की कठोर प्रेरणा से पीडित होकर प्राणी
ईश्वर की अनादि शक्तियों को हेय समझ बैठता।
कभी जब परिवर्त्तन का उसे अनुभव होता
तो वह अपने अस्तित्व को अनायास अभिशप्त देखता।

अवहेलना की ओट मे प्राणी भाग्य को ही कोसता,
लोभ-मोह-मद की ओर तीव्रगामी होता।
सासारिक माया-जाल मे फँस
अपने व्यवस्थित रूप के साथ उसे भी भूल बैठता
जिसे वह प्रभु कहता।

प्रभु! तूने प्राणी को ऐसा रस क्यो नही पिलाया
जो तेरे अमरत्व को नहीं भूलता!
तेरे विषम समीर के झकोरों में भी
वह तेरा होता और तू उसका।

—o—

मृत्यु—

क्या तू भूल नहीं करती ?
ईश्वर ने तुझे अपार एवं अचूक शक्ति प्रदान की है
इसलिये नहीं कि तू उसका प्रयोग मदान्वित होकर करे।
तूने अनधिकार चेष्टाएँ तो की परन्तु उनसे हुआ क्या !
तेरा घमंड—तेरा पराक्रम
संसार के सारे जीवनीय वैभव को निस्तेज कर सकता है।
किन्तु यह है दैवी शक्ति
इसका उपयोग तुझे समझ-बूझकर ही करना चाहिये !
नहीं तो,
ईश्वर का उपहास—उसीका अपमान !
मूर्खा, तू अपनी विचार-प्रवृत्तियाँ तो बदल !

क्या तू भूल नहीं करती ?
तू सर्वदा दूसरो के अस्तित्व को मिटाने के लिये ही प्रयत्न
करती आयी है ।
तेरे गर्व की साँसो ने जाने कितने जगमगाते हुये
दीपक बुझा डाले !
परन्तु कहीं-कही तूने भी पराजय देखी हे ।
क्या तूने सावित्री के सतीत्व से पराजय नहीं पायी ?
अथवा
प्रह्लाद से हार नहीं खायी ?
भला धूल पोछकर कौन अपनी चोट सहलाता है !
फिर भला तू !

क्या तू भूल नहीं करती ?
तूने पुनः अपने गर्व एव व्यग्य-हास्य-प्रकृति से
व्याकुल हो
उसी अपमानजनक कार्य के करने को
फिर सचेष्ट दीख पडती है ।
हा !
तू ठोकर खाकर भी न सँभल सकी !
अपना पथ न समझ पायी !
तूने अमर बना छोडा रवि ठाकुर को—
यह अमरत्व क्या सर्वदा के लिये तुझसे मुक्त नहीं ?
क्या प्रत्येक मुक्ति तेरा उपहास नही ?
यह उपहास क्या तेरी अक्षमता नही !
क्या तू भूल नही करती ?
हा, निर्मम मृत्यु !
क्या तू भूल नहीं करती ?

—०—

परिवर्त्तन---

कहानी

मनुष्य के जीवनकाल मे और वह भी आज के ससार मे जबकि स्थान और स्थिति के अनुसार वातावरण के वैचित्र्य आँखो के समक्ष आया-जाया करते है और प्रत्येक स्तर पर रूपो मे परिवर्त्तन होता रहता है जिसे मनुष्य समझता है अवश्य परन्तु जिसके जिज्ञासा-चिन्तनादि विषयो मे कभी-कभी उसके तत्त्व एवं सत्ता का ध्यान छोड-कर असमञ्जस मे तल्लीन हो जाता है, जिसके फलस्वरूप उसकी परिभाषा महा जटिल एवं विकट रूप धारणकर उसके समक्ष आ जाती है और मनुष्य-मात्र पृथ्वी-जैसी [illegible] के रगमच पर अद्‌भुत खिलाडी बन बैठता है।

प्रभाकर अपने प्रखर रूप से अपनी स्वाभाविक प्रकृति का दर्पण लिये, किसी अज्ञात वेदना को उसमें प्रतिबिम्बित करता हुआ, अपने स्वय आभास से व्याकुल, लाल-लाल अगार के समान हृदयावेश प्रदर्शित करनेवाले तप्त वदन को लज्जायुक्त प्रतीची के अम्बराञ्चल मे छिपाने के लिये व्यग्र हो रहा था। पश्चिम पयोधि सिंदूरमय था। व्योम पर बादल के टुकडे चलते-फिरते दृष्टिगोचर हो रहे थे। दृश्य मनोहर एव हृदयग्राही था। शृगाररस की लोल भावनाएँ आँखमिचौनी खेल रही थी। निस्सीम शून्य मे सूर्यास्त के पश्चात् सुधाकर अपनी शीतल-छटा बिखेरने के लिये शनैः-शनैः प्रोद्भासित हो रहा था। तारामडल अपनी क्रीडास्थली मे अग्रगामिनी पथ-प्रदर्शिका चन्द्रच्छटा को देखते ही उतावला-सा हो गया। पवन मन्द गति मे प्रवाहित हो रहा था। स्पर्श से स्पन्दन होना स्वाभाविक ही था। मधुयामिनी अभिसार का अमृत घोल रही थी। चम्पा, चमेली, बेली, जुही, रजनीगधा और चन्द्रमालती आदि कलिकाएँ प्रस्फुटित हो अपनी-अपनी सुरभि-भिन्नता से मानवी भावनाओं को आलिगन की उमगों से छेडती हुयी शृगाररस को सुवासित करती हुयी स्वर्गीय सुखो की मधुर कल्पना मे नन्दनकानन की ओर प्रवाहित किये जा रही थी।

बम्बई के रेलवे स्टेशन पर भीड की आँधी चल रही थी। अनेक व्यक्ति भिन्न-भिन्न कामनाएं लिये प्लैटफार्म पर एक उथल-पुथल-सी मचा रहे थे। भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओ के विक्रेता अपनी-अपनी धुन मे कर्मशील थे। थे सभी सतर्क।

कौन जानता था कि दो अपूर्व दपति अभी पहुँचनेवाली गाडी से विवाहोपरान्त सुहागरात मनाने के लिये इस द्वीप नगर मे आने वाले है। कल्याण स्टेशन से दस-पन्द्रह मिनट के अन्दर ही गाडी बम्बई स्टेशन आ जाती है। सिगनल का हरा प्रकाश फुफकारी हुयी गाडी का आवाहन कर रहा था। कुछ विलब के पश्चात् वायुवेगवती गाडी आ धमकी। आँखो पर आँखें नृत्य करने लगी, प्रेम-पिपासा

बढ़ चली—प्रणय-बन्धन के प्रथम शृंगार-रस के आस्वादन की वेला जो आ पहुँची।

कुलियो को सामान निकालने का आदेश मिला और नौकरो के साथ दो भिन्न डिब्बो से सामान लेते हुये कुली टैक्सी-स्टैण्ड की ओर बढ गये। उधर सामान टेक्सियो पर रखा जा रहा था और इधर दोनो दपति एक-दूसरे के आगमन से अनभिज्ञ भीड मे धीरे-धीरे पृथक-पृथक जा रहे थे। गेट पर टिकट देने का स्मरण होते ही दोनो नववधुएँ अपने-अपने हैण्ड बैग से टिकट निकाल अनायास एक ही समय टिकट देने लगी। दो कोमल कर-कमलो का एक साथ टिकट देना स्वय एक मनोहर दृश्य था जिस पर निकट और दूर की दृष्टिया पडी और पड कर रह गयी। टिकट कलेक्टर पाषाण-सा खडा ताकता रह गया और दोनो विकसित कुसुम-कलियाँ क्षणिक उद्यान मे वसन्त बिछाती चली गयी। दोनो नवबन्धन के पुष्पित युवक अपनी-अपनी नववधुओ की मुस्कुराती हुयी मुखाकृतियो पर गवित होते हुये अपने-अपने नौकरो को पहचान कर टेक्सियो मे अपनी-अपनी प्रेम-पत्नियो के साथ बैठ गये। नववधुओ के कोमल और सुकुमार हाथो म जैसे ओजस्वी चुम्बक भरा था। हाथ से हाथ मिल गया किसी आन्तरिक प्रेरणा का उद्‌गार लेकर। टैक्सियाँ ताजमहल होटेल की ओर चल पडी।

ताज-होटेल दीख पडा और साथ ही इडिया गेट भी। बिजली की जगमगाहट मे हिन्द-महासागर पर हिलोरें लेती हुयी हवा भी भयानक प्रकप लिये थिरक-थिरक कर चल रही थी। सहृदय व्यक्तियो तथा अगाध प्रेमियो मे इतनी क्षमता कहाँ जो ऐसी परिस्थितियो की अवहेलना कर सकें अथवा पारस्परिक लाभ का लोभ सवरण कर सकें। उलझ पडे वे सध्या की इनकी प्राकृतिक अनुभूतियो के उलझे डोरो मे। आज्ञा का ही विलब था कि साँय-साँय करती हुयी दो टैक्सियाँ आगे-पीछे आकर रुकी। दो टैक्सियो के एक ही साथ रुकने पर दोनो युवकों की पूर्वपरिचित आखो ने मैत्री की स्मृति से विस्मय की यवनिका उठा दी। दोनो भ्रमीभूत हो गये। इस अचानक घटना

के घटते ही एक बार आश्चर्य्य की लहर आयी किन्तु विभिन्न कारणों के सागर मे विलीन हो गयी। रमेश और सुरेश का अभिवादन प्रणाम हो गया—इसके अतिरिक्त कुछ और न हो सका। प्रेम-वीणा के तार उस झकार की प्रवीण प्रणय-लहरी ध्वनित कर रहे थे जिसे कवियो ने हृदय-तन्त्री की माधुरी कहकर समझाया है। अभिसार की प्रतीक्षित घडियो के विह्वल आकर्षण मे अन्य विषयो की समवेदना कहाँ! दोनो दपति एक दूसरे से पृथक हो गये, यही कहकर कि पुनः मिलेंगे। कहाँ, कैसे और कब मिलेंगे, इसकी जिज्ञासा किसे अपेक्षित थी! प्रणय का रग जो गहरा था।

उलझी-उलझी-सी भावनाएँ लेकर जो प्रेमियो की प्रवृत्ति मे प्रायः दृष्टिगोचर होती है, दोनो दपति अपने-अपने निराकार उपास्य को साकार बनाते हुये भिन्न-भिन्न दिशाओ की ओर बढ़ गये। एक दक्षिण दिशा की ओर तो दूसरा वाम दिशा की ओर।

ट्रेन मे दोनो दपति प्रथम श्रेणी मे पृथक-पृथक डिब्बे मे यात्रा कर रहे थे फिर भी अन्य यात्रियो के कारण अन्तर्वेदना की चिकित्सा वे न कर सकते थे। भावनाएँ हिलोरें मार रही थीं—एक विचित्र प्रहार लिये। यही कारण था कि प्रेम-मिलन के प्रथम आलिगन की अलौकिक छवि प्रकृति के चित्र-पट पर उतर आने को आतुर हो रही थी—जिस दृश्य का वर्णन अन्यथा अवलोकन दोनो ही असभव था। भावो की उलझन, लेखनी झख मारकर भी नहीं सुलझा सकती। अतृप्त जिज्ञासुओ की तृष्णा ग्रीष्मकालीन मृगी के नयनो में समा जाये इसके अतिरिक्त कुछ भी नही!

रमेश ने प्रणयाभिसार की उत्तप्त कामना के अनल-पुंज को शीतल करते हुये, प्रफुल्लित मुखाकृति मे विजय की भावभगिमा खीच-कर टैक्सी को ताज होटेल की ओर जाने का आदेश किया। ताज-होटेल अपने सुसज्जित आवरण में जगमगा रहा था। रमेश अभी ताज के मैनेजर से वार्ता ही कर रहे थे कि सुरेश अपनी पत्नी-सहित आ पहुँचे। मैनेजर ने दोनों युवको को कमरो की तालियाँ दे दी।

मैनेजर साहब इन दोनो अतिथियो से पूर्वपरिचित थे। रमेश बाबू तथा सुरेश बाबू सुहागरात मनाने बंबई आकर ताजहोटेल मे ठहरेंगे, इसकी सूचना उन्हें चार-पाँच दिवस पूर्व ही मिल गयी थी और कमरो को सजाने का आदेश भी मिल चुका था।

रमेश और सुरेश परम मित्र थे और दोनो ही लक्ष्मी एव सरस्वती के वरद पुत्र थे। कमला तथा विमला परस्पर अपरिचित युवतियाँ थी, परन्तु दोनो ही सुन्दरता, कोमलता, मधुरता एवं प्रेम की प्रतिमा-स्वरूपा गभीरता को इस प्रकार प्रकाशित कर रही थी मानो स्रष्टा ने अपनी सारी कला एवं बुद्धि को इन्ही दोनो के निर्माण मे व्यय कर दिया हो। वर्ण तो आकर्षण का एक पृथक् ही कारण बना हुआ था।

दोनो मित्रो ने विवाहोत्सव के शोभन-सवर्धन हेतु एक-दूसरे को निमत्रित किया था किन्तु प्रणय-बन्धन की तिथि एक होने के कारण एक ने दूसरे के शुभ विवाह मे योगदान नही दिया। ताज-होटेल मे इन दोनो का यह मिलन अनायास ही था। मित्रो को वधुओं का और वधुओ को मित्रो का परिचय मिलने के पश्चात् चारों व्यक्ति होटेल के सुसज्जित गृह-विशेष मे वार्तालाप के लिये बैठ गये। अपनापन का राज्य था क्योकि वहाँ कोई अन्य न था। थोडी देर मनोरंजन की बातें कर दोनो दंपति अपने-अपने कमरे मे चले गये।

कमरो की सजावट मे उत्तम श्रेणी की कला का आभास मिल रहा था। ऐसा ज्ञात हो रहा था कि इन कमरो को भी नवागन्तुक बहुओ की सुंदरता का पहले से ही परिचय था जो अपने-आपको उनके योग्य सिद्ध करने को कुछ भी उठा न रखा। इन ललनाओं के प्रवेश से तो वह और जगमगा उठे। सुगंधित पुष्पो की मालाएँ तथा गुच्छे उचित स्थानो से ही नव-प्रेम-पात्रो के विहार एवं आनन्द को सुवासित करने हेतु फूले नहीं समाते थे। कमरे क्या थे मानो विहार-केलि-केन्द्र थे जिनमे स्वर्ग से देवता भी आने को तरसते हों। दोनो दंपति अपने-अपने कमरे मे शाति का राज्य पा रहे थे। विलास के भावो में निर्निमेष आँखों का प्रणय-प्रदर्शन अधरो पर लास्य बनकर

उतरना ही चाहता था कि भोजन का समय खटकने लगा। टिन-टिन-टिन घटी का आदेश पाकर अनुचरगण सेवाभाव लेकर उपस्थित हो गये। शीघ्र ही भोजन की सामग्री मेज पर सजा दी गयी। दोनो कमरो के द्वार बन्द हो गये। पता नही, किस प्रकार भोजन समाप्त हुआ और किस समय कौन क्षुधा जाग्रत हुयी और बुझी!

× × ×

जब स्रष्टा ने ही अपनी रचना मे प्रगतिशील एव परिवर्त्तन-शील हर वस्तु बनायी है तो यह असभव न था कि यह दपति स्रष्टा के नियमो से पृथक रह सकते।

प्रभात के व्योमाचल से प्रकाश का उद्भूत गोला प्रोद्भासित होता दीख पडा। प्रभाकर के आगमन ने कोई वस्तु श्याम न रहने दी। प्राकृतिक आवश्यकताओ से निवृत्त हो यह दोनो दपति तृप्त प्रेमोद्भासित मुखाकृति लिये चाय के कमरे मे पधारे। ऐसा ज्ञात होता था कि होटेल के भृत्यगण इनकी बाट जोह रहे थे। आज्ञा-पालन का कर्त्तव्य कुछ ऐसी सुन्दरता से निभ रहा था।

चारो परस्पर बातो मे तल्लीन हो गये, चाय आदि भी चलती रही। कुछ सामाजिक विषय भी वार्ता मे सम्मिलित थे। समय-समय पर आलोचनात्मक दृष्टि से भी विवेचन हो रहा था। इसी समय एक खद्दरधारी प्रौढ़ पुरुष भी आज्ञा की जिज्ञासा कर उन लोगों के साथ ही बैठ गये। आप बम्बई के एक प्रसिद्ध काग्रेसी थे। काग्रेस के नेताओ का सपर्क पा एक उच्च कोटि के वह कार्यकर्त्ता हो चुके थे।

पाँचो व्यक्तियो का एक गुट-सा बन गया। सासारिक विषय-शृंखला मे भारतीय राष्ट्र-निर्माण, स्वराज्य एव समाज-सुधार के प्रगतिशील विषय जुडते चले गये और दोनो नवीन दंपतियो के मानस-पटल पर शनैः-शनैः अंकित होते गये। भावनाओ मे ओजस्विता भरने लगी, विचार-धारा मे परिवर्त्तन-सा होने लगा और लास्य-प्रदर्शित जीवन के परिचायक चंचल क्षणो मे सर्वहारा साहित्य

का-सा चिंतन भर गया। गभीर्य्य के इस रूप मे थी किन्तु प्रौढ़ता ही जो दृढ़ निश्चय की सीमा बाँधना चाहती थी।

रमेश बाबू एक धनाढ्य के पुत्र होने के कारण वैभव की गोद में पले थे। ज्ञानशून्य मनुष्य सर्वदा वैभव को ही ऐश्वर्य का साधन समझता है। यही उनके यहाँ के वातावरण की परिभाषा थी। उनके पिता को सम्राट की ओर से ऊँची-ऊँची उपाधियाँ मिली थीं और उन्होने अपने धन के बल पर जनता मे ख्याति भी पा ली थी। आपको शासन-सत्ता के कर्मचारियो को प्रसन्न रखने की बडी उतावली रहती थी जिनके सकेत पर तन-मन-धन एव प्राण तक न्योछावर कर सकते थे। इसीलिये शासकीय विभाग मे उनका अधिक मान था। आप लाहौर-निवासी थे। आपकी गगन-चुम्बी अट्टालिका किसी राज-प्रासाद से कम ऊँची न थी।

अपने पिता के एकलौता बेटा होने के कारण रमेश बाबू बडे लाड-प्यार से पाले गये थे। उनके मानस-पटल पर उस वातावरण की छाया पड चुकी थी जिससे किशोरावस्था के यौवनावशेष काल तक ससार की प्रगति का लक्ष्य ही उन्हें ज्ञात न हो पाया था। भवन के अतिरिक्त उनके ज्ञान की सीमा ही कुछ न बन पायी थी। राज-दरबार के कर्मचारियो मे भी भगवान की दया से पर्याप्त दोषो की विशेषता थी जिनकी छाप आपके सस्कार पर पडकर ही रही। उन्हें मनोरजन-प्रिय, विलास-प्रिय, तथा वासना-कुतूहल का आखेट बना कर माया के उत्तुंग शिखर पर गर्व के साथ आसीन करा दिया गया था।

यौवन-प्रस्फुटन के समयाधीन हो जब वह पुस्तको मे लिखे हुये विषयो की स्मृति के कारण समय समय पर निज को किसी तुलना में प्रवृत्त कराने लगते थे तो वह उतावले होकर व्यग्र हो उठते, किन्तु अस्तित्व को अभिशाप मानकर उसे ठुकरा दिया करते थे। अपने को निर्बल एव असहाय पानेवाला व्यक्ति इससे अधिक कर ही क्या पाता! सास्कृतिक पौरुष एवं कर्मनिष्ठा स्रष्टा की ही देन है परन्तु उन्हें यशस्वी पुरुषों का आत्मबल अवश्य चाहिये।

रमेश बाबू के पिता अब वृद्धावस्था के चंगुल में अन्तिम उच्छ्वास की प्रतीक्षा कर रहे थे, इसीलिये रमेश का विवाह रचाकर अपनी आँखो को सुखी करना चाहते थे। विवाहोत्सव मे उन्होने सम्पत्ति के विभव को भली भाँति प्रदर्शित किया और दिल्ली के एक सम्पन्न परिवार की कमला नामक देवी से रमेश बाबू का परिणय करा अपनी वृद्ध कामना को तृप्त कर लिया।

कमला के पिता भी वैभव एवं ऐश्वर्य-पूर्ण व्यक्ति थे परन्तु उनके परिवार के सभी व्यक्ति हिन्दुत्व-रक्षा निमित्त सामाजिक रूप मे अपनी धार्मिक संवेदनाओ की सीमा को कुरीतियो की समता मे विजयी बनाने के लिये ही सब-कुछ कर रहे थे और वह स्वयं भी एक उच्च कोटि के समाज-सुधारक बन गये थे। कमला के हृदय-पट पर हिन्दुत्व पर किये गये आघातो और अत्याचारो के चित्र अंकित थे। अपने पिता के धर्म-मार्ग को ही वह सबसे अधिक प्रशस्त और अपेक्षित समझती थी।

सुरेश बाबू के पिता कानपुर-निवासी थे, वह अपने जीवन के प्रारंभिक काल मे एक मध्यम श्रेणी के पुरुष थे परन्तु पुरुषार्थ एवं उद्योग के कारण करोडो की सम्पत्ति से परिपूर्ण थे और प्रभावशाली व्यक्तियो मे अपनी गणना रखते थे। औद्योगिक क्षेत्र मे उनकी ख्याति ऊँची श्रेणी के चातुर्य्य-लब्ध इने-गिने पुरुषो मे थी। वह चालीस मिलो के स्वामी थे। उनकी मिलो मे मनुष्यमात्र की आवश्यकता-पूर्ति के लिये हर प्रकार की वस्तुएं बनती थी। सुरेश बाबू को फिर ऐसा वातावरण मिलना ही था जिसके द्वारा उन्हें पुरुषार्थ का पाठ मिलता। किन्तु औद्योगिक विषय का उनके बडे भाई को ही ज्ञान था, उन्हे बहुत कम था। उनको तो राष्ट्र-निर्माण-सम्बन्धी बातों से अवकाश न मिलता था। कुछ कारण ऐसे उपस्थित हो गये थे जिन्होंने सुरेश बाबू की हार्दिक उमगो को राष्ट्रीयता की ओर प्रेरित कर दिया था। वह कर्मशीलता के प्रदर्शनार्थ कोई उचित समय की बाट जोह रहे थे। उनके पिता ने इसी बीच यथा-विधि शुभ दिवस और शुभ मुहूर्त्त में

गाज़ियाबाद के एक राजनीति-तत्त्वज्ञाता लक्ष्मीपात्र की सुपुत्री विमला के साथ विवाहोत्सव रचाया। विमला राजनीतिक मर्मों से भली-भाँति परिचित थी।

रमेश और सुरेश एम०ए० की परीक्षा मे अभी एक ही साथ हिन्दू-विश्वविद्यालय,बनारस से प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण हुये थे। इसी विद्यालय मे समकक्ष विद्याध्ययन के कारण वह परस्पर मैत्री-सूत्र मे बँध गये थे और एक-दूसरे से विदा होकर आज एक वर्ष पश्चात दोनो दपति के रूप मे ताज-होटेल मे फिर मिले।

नव वधुओ की चचल रश्मियो से जाग्रत हुयी तृष्णा बुझकर कुछ शीतल तो पड ही गयी थी, इसलिये गाभीर्य्य को स्थान मिल गया। विविध विषय समाप्त हो चले।

कमला और विमला ने इसके पूर्व बबई नही देखा था। उनके लिये यह स्थान नया था। इसलिये अब यह निश्चित हुआ कि उन्हें प्रसिद्ध-प्रसिद्ध स्थान दिखा दिये जायँ। सकेत मिलते ही टैक्सी आ गयी और दोनो दपति निकल पडे। बबई का चप्पा-चप्पा देख डाला गया। पर्याप्त सतोष हो गया।

इन्ही दिनो भारतीय चक्रव्यूह पर रचनात्मक दृष्टि डाली जा रही था। सध्या का आगमन हुआ और यह चारो हैगिग गार्डेन मे आकर एक रमणीय स्थान ढूँढकर बैठ गये। गोधूलि के समाप्त होते ही होते निखिल भाव से किसी गाने का शब्द सुनायी पडा। हृदय की प्रेरणा कभी-कभी इस प्रकार चमत्कार प्रदर्शित करती है जिस पर विवेक की सतर्कता भी मूक बन जाया करती है। गीत गानेवाले के सुरीले शब्दो मे [illegible] का वेग था जो कानो पर उत्साह बन कर छा गया। उसका हृदय दृढ़प्रतिज्ञ बनकर मानो रण-भेरी बजा रहा था। सत्य है, इन सार्थक वाक्यो को सुनकर कौन अकर्मण्य बना रह सकता है :—

जाग रे, तरुण ! देश-काल के विचार से,
आ रहे संदेश यह क्रान्ति की पुकार से ॥ जाग रे ॥

निज विचार दृढ़ बना दासता हो दूर बन्धु ,
मातृ-गोद भर चले स्वतत्र पुष्प-हार से ॥ जाग रे ॥
ओज और तेज के प्रकाश का प्रसार हो,
निकालना है देश तुम्हे अधकार से ॥ जाग रे ॥
न पग रुके बढे चलो कि लक्ष्य सिद्ध हो
शकित हो विश्व, शाति-क्राति के प्रहार से ॥ जाग रे ॥
जीवन और यौवन को बाँध त्याग ऐक्य-सूत्र
छीनना अभीष्ट है स्वतत्रता सहार से ॥ जाग रे ॥

दोनो दपति यौवन के ओजस्वी प्रतीक थे ही। चारो की सस्कृति रचना का एक विचित्र सामजस्य बन बैठी। गीत के वाक्यो ने अपने रूप का उनके कर्त्तव्य निर्धारित करने मे ऐसा सहयोग दिया कि उनके मन और हृदय एक होकर बोल उठे।

"धिक्कार है उस जीवन को जो देश के राष्ट्रीय सग्राम मे मातृभूमि का उत्थान करने के लिये, उसे स्वतत्र बनाने के लिये यथा-रूढ न हुआ हो।"

अब वह दोनो दपति होटेल आ चुके थे। भोजन के समय फिर पाँचो व्यक्ति एक ही मेज पर आ गये, निवृत्त होकर अपने-अपने कमरे में चले गये।

कल भारतीय राष्ट्रीय झंडा-अभिवादन का शुभ दिवस मनाया जानेवाला था। प्रभात ने अपनी छटा का प्रभाव विलक्षण रूप में विस्तृत किया और एक विराट् जुलूस के आगे-आगे राष्ट्र-मार्ग पर प्रफुल्लित, दृढ़प्रतिज्ञ, कान्तियुक्त, प्रगतिशील, तेजस्वी दो युवकों तथा दो महिलाओ का बढ़ना दर्शनीय था। भारतमाता की जय से आकाश गूँज उठा।

—०—

वसन्त—

संसार !
तूने अपनी महत्ता इस प्रकार खो डाली ?
माना कि स्रष्टा ने सारी सृष्टि का सृजन ही परिवर्त्तनशील रखा है
परन्तु अमामयिक कोई वातावरण नहीं,
न सामंजस्य उसके परिवर्त्तन में ही।

तुझमें निहित है अदृष्ट शक्ति,
विचित्र सुख,
वैभव अशेष
परन्तु आज तेरा वह वैभव कहाँ !
कहाँ है वह तेरी उन्माद-भरी ऊषा की अरुणिम मुस्कान !

कहाँ है तेरी वह उन्मत्त अविरल धारा !
कहाँ है, तेरा वह कोमल स्पर्श, उसका मधुर स्पन्दन !
हे, आज के संसार !
तेरी वह गति,
तेरी वह आभा,
जो सभी के हृदय की सिहरन का कारण बन बैठी है,
कहाँ है !

आज सभी मे उन्माद है, उमंग नही।
सभी व्यथित है, प्रसन्न नही।
यह लीला भयानक तो नही !

तू शान्ति, सुख तथा प्राकृतिक उल्लास का
आवरण धारण कर
जिससे प्राणिमात्र सुखद जीवन व्यतीत करे।

—०—

हृदय की देवी—

आह ! देवि, शीतलता का वास तुममे—

जब तुम्हारे निकट
हृदय की प्यास बुझाने को
मैं अपनी सुधि भूलता हुआ
संसार की ठोकरें खाता हुआ आता हूँ
और प्रेम-व्यथा का शमनोपचार खोजता हूँ
तुम मुझे अनिमेष देखती हो—मैं सस्मित हो रहता
आह ! देवि, निष्ठुरता का वास तुममे—

जब तुम्हारे अचल में
मैं पुष्प भरना चाहता हूँ

भुजपाश मे तुम्हें कसना चाहता हूँ
तुम मेरे अवगुठन खोल देती,
मै व्यथित हो उठता

आह ! देवि, नीरसता का वास तुममे—

जब तुम्हारी चिबुक मे मै प्रेमाकुर उगाने की चेष्टा करता,
प्रेम के हिंडोल मे तुम्हे झुलाने का प्रयत्न करता,
तुम निश्चेष्ट हो जाती,
मै अनिश्चित हो रहता ।

आह ! देवि, अप्रियता का वास तुममें—

जब मै तुम्हारी अजुली का जल बनना चाहता और
तुम्हारे स्पर्श मे प्रवाहित होना चाहता
तुम अजुली ही नही बनाती, मै असफल रह जाता ।

—o—

पथिक—

जीवन-संग्राम-निमित्त मनुष्य
स्रष्टा की ओर से
उसकी ही रची हुयी पृथ्वी पर
सैनिक का रूप देकर भेजा जाता है

मायारूपी 'जगत्'
सजग हो
अपने में अंधकार छिपाये
उसके समक्ष आ खड़ा होता है—
माया-मिश्रित, आशा-पूर्ण,

उल्लास-केन्द्रित
चंचल पथ प्रदीप शिखा लेकर।

वह प्रलोभनों में ग्रस्त
अंधकार को प्रकाश समझ
आगे बढ़ चलता है—
सजीव रूप में निर्जीव होकर
ठोकरें खाता हुआ
लक्ष्य से अनभिज्ञ।

संस्कृत
उसकी अपनी वस्तु है
विचारता है अबोधावस्था में
और
चिन्तनावस्था को
वह अपने प्रतिकूल पाता है।
सस्मित हो
पथ ढूँढ़ने लगता है
थका-सा
हारा-सा
किन्तु
आशा के प्रलोभनों से वशीभूत होकर।

आशा की धारा में प्रवाहित होकर
उठती-पड़ती लहरों के हिंडोलों पर
झूलता हुआ
अनन्त विश्राम को
निश्चितरूप से छोड़ देता है।

निरर्थक वेदना लिये
ज्ञानाभास से भी विरक्त ।

आतिथ्य-सत्कार का पद भी नही पाता,
अपने को अपनी ही अग्नि मे भस्मीभूत पाता है ।
अपने भेजनेवाले की शरण मे
पुनः विश्राम पाता है ।
यही पथिक तो ।

—०—

शिशु-जन्म—

कल-कलवाहिनी
गगा के पूर्वी तट पर
एक विलक्षण रूप धारण किये
वैज्ञानिको द्वारा आविष्कृत
विद्युत् की प्रभा में
जगमगा रहा था वह,
सासारिक रूप धारण किये
कुछ ज्ञानग्राही जीवधारी,
आमोद-प्रमोद
तर्क-वितर्क
आनन्दमय होकर

विलास कर रहे थ ाजसमे
उसका नाम ही जो था
वैभव-विलास । भवन था वह विराट् ।

सध्या प्रारभिक अवस्था में खोई-खोई-सी लग रही थी ।
किन्तु मानवगण
उमग, अभिलाषा
आनन्द, तृष्णा
शान्ति-सुख, अवसाद-विषाद आदि की
प्रेरणा से
उत्पीडित होते गये ।

कुछ वाद-विवादोपरान्त
महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकल ही पडा ।
आशा जमकर रह गयी
यही क्या कम !
नही-नही के गर्भ से
एक हाँ-रूपी शिशु की
उत्पत्ति हुयी तो !
नामकरण-सस्कार
किसी अन्य दिवस पर
टाल दिया गया ।
नदी किनारे जन्मे हुये अथवा
पाये गये शिशु का नाम
या तो कुछ भी न रखा जाता
अन्यथा कोई लम्बा-चौडा अवश्य होता ।
वहाँ कुछ ऐसे विद्याधुरीण विराज रहे थे
जो आने-जानेवाली प्रथा के सहारे

• इस शिशु-जन्म की गूढ़ता एवं गाभीर्य्य पर
अन्वेषण करना भी निरर्थक ही समझते थे।
ऐसे सज्जनों का संबल मौन्य था।

इस शिशु जन्म के अवसर पर
सभी आह्लादित थे, किन्तु
उसके भविष्यत् अधकार की
किसीको भी चिता न थी।
ऐसे शिशु को भी मेरी शुभकामना।

—०—

शुभकामना--

भारत-सम्राट् अशोक के जीवनान्तोपरान्त
भारत मे पुनः खलमडल मचने लगा।
भारत-माता की विभिन्न सतान
उसके अग-प्रत्यग को
तोडती और जोडती चली।

धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की परिभाषा मे भी वैषम्य जाग्रत् हो उठा। वैमनस्य तथा पारस्परिक भेद-भाव का प्रचलन-सा हो गया। भारत-माँ सतप्त हो अपने आतरिक सरस प्रवाह से हृदयाचल को सिक्त कर प्रभु से ऐक्य की प्रार्थना कर धर्मरक्षा हेतु कर्म के अनुष्ठान की भिक्षा माँगने ही को थी कि यवनो का आगमन प्रारभ हो गया जिन्होने पृथ्वी के इस गौरवशाली भूखण्ड को विभक्त वातावरण मे देख

आक्रमण किया। राष्ट्रहीनता और अनैक्य के कारण मां, परतंत्र होकर ही रही।

यह समय-चक्र का ही प्रभाव था कि विजयी यवनो के समय मे भारत पुनः एक होने लगा और वह भी साम्राज्यवादी बन्धन मे।

विघ्न-बाधाओ के रहते भी स्वच्छ नैतिकता के नेत्र खुले किन्तु वहीं टिक गये। भारत-मां उनके नेतृत्व मे अपने अग के विभाजित टुकडो को खोकर भी प्राप्त कर सकी। किन्तु अभी टेढी-मेढी पग-डडी पर ही चल रही थी, परतत्र जो थी वह।

हृदय विदारक श दो मे माता ने अपनी सतानो को ललकारा जिसमे वह अपनी जननी की सतप्त पुकार को श्रवणकर स्वार्थरहित निधियो स परिपूर्ण हो स्वतत्रता के सग्राम म रण कौशल के साथ उतर पडे। सघर्ष और मृत्यु को सुख से अपनाने को निर्भय होकर अपनी थाती को निज किरीट बनाने के लिये ही।

भाग्य-निर्माता ने माता तथा सतान दोनो की प्रार्थना स्वीकार की। आज वह दिवस पुनः दृष्टिगोचर हुआ जिसने दोनो को स्वतत्र बना दिया।

इसम सदेह नही कि भारत-माता की दोनो भुजाएं खण्डित हो गयी किन्तु कठिन पथ जब सरल सारता बन जाता है तो शीतलता स्वय प्रवाहित होने लगती ह। अस्तु।

प्राप्त औपनिवेशिक स्वतत्रता, पूर्ण स्वराज्य का प्रतीक सिद्ध हो और शीघ्र ही भारत-माता की जयध्वनि से शून्यलोक शब्दाकाश बन जाय, यही एक कामना है।

—o—

असार जीवन की सार्थकता—

जीवन-उद्यान ही
वह अर्धविकसित कलिका है
जिसकी
कोमलता, मृदुलता, भावुकता एक रोचक अवगुंठन में
उस चचल का प्रतीक है
जो प्रकृति-सरोवर में शतदल का रूप धारण कर
भव-सागर में मनुष्य के हृदय-कमल की भगिमा में
प्रतिबिंबित होता है।
जिसके सौरभ से ससार
उद्यान बन जाता है। लहलहा उठता है।
मनुष्य इसीको स्वर्गीय आभा समझ

उन्मादित हो उठता है।
जब भावुक स्पन्दनों में
वेदनाएँ उठती हैं
वह द्रवित हो, व्याकुल हो जाता है
और
उसे अपना कहने को नैराश्य तथा उदासीनता के भाव रह जाते
स्तंभित हो जिज्ञासु बनता और पुकार उठता
'धन्य है वह जिसने सृष्टि-क्रम का भार लिया है'
मस्तक नत करके उसकी आराधना करता है,
किन्तु पुनः जब वह संसार की ओर
लक्ष्य करता है
उस रूप को भूल बैठता है
जिसके समक्ष उसने अपना मस्तक नवाया था।
स्वयं गर्वान्वित हो बढ़ चलता है
किसी अर्ध-प्रस्फुटित कली के रसास्वादन के लिए।

आ ! हा !
प्रस्फुटन का कैसा रूप !
जिसकी मनुहार हृदय को सौरभ से
आँखों को उन्माद से
वायुमंडल को उल्लास से
और
आकांक्षाओं को तृप्ति के आश्वासन से भर देती है।
आ ! हा !
उसकी विडंबना कैसी !
जिसका एक-एक व्यंग्य
चित्त को चिंता से
मन को संकल्प से
बुद्धि को निश्चय से

और
अभिमान को पश्चात्ताप से प्लावित किये बिना नहीं रहता।
उस अमूल्य रश्मिराशि की सर्वाङ्ग उज्ज्वलता को क्या कहना,
जिसका रूप फटे बादलों से निकलते चन्द्रमा-जैसा
और गुण, मेघों को अश्रुओं मे परिणत कर देनेवाले
ओजस्वी सूर्य-जैसा होता है!
किन्तु इसे
मनुष्य परखने में ज्ञान-केन्द्र की अवहेलना करता
आर किरणों का आखेट बन बैठता।

अन्धकारमय भविष्य की ओर ध्यान देता हुआ
शून्य जीवन की विस्तृत असारता के प्रदीप्त-प्राङ्गण मे
अबोध रह कर
उसे जीवन-प्रतीक समझ
मनष्य आगे बढ़ चलता है।
करुणा रूप धारण कर
अशान्त सागर के
प्रशान्त गर्भ मे विलीन होकर
कारण से अनभिज्ञ
किसे कोसने को प्रस्तुत हो जाता है!
उसका निर्णय
वह स्वय ही करने मे अक्षम सिद्ध होता।
जीवन अभिशापरूप धारण करता
और मनुष्य उतावला हो उन्मत्त हो जाता
किंकर्त्तव्यविमूढ हो
अपने उस दुर्भाग्य को ठोकर मारता
जिसे अदूरदर्शिता मे वह स्वय बिगाड बैठा है।

—o—

ॐ—

स्मृतियो की विस्मृति मे
मन की मोह-शैया पर
बुद्धि की समाधि मे
जीवन मानो आतताइयो के हाथो सौपा दिखायी पड़ता है ।
मन की मुग्धावस्था
चित्त की चचलता
मस्तिष्क की अस्थिरता
हृदय की पिपासा
आशा की उतावली
भावो की सूक्ष्मता
उद्‌गारो की भीषणता
वैदग्ध्य एवं चातुर्य आदि

असमंजस के ऐसे उद्भूत केन्द्र बने रहते हैं
कि मनुष्य व्यतीत समय के सचित ज्ञान की
उपेक्षा कर
अपने क्षणिक उन्माद के वशीभूत हो
अवश्यभावी अन्धकार को
प्रकाश की रूप-रेखा समझ
अपने को उलझा डालता है
और निरर्थक स्वाति-बिन्दु हेतु
चातक की भाँति सर्वदा तड़पा करता है

विधाता ने अपने विधान मे
इस रूप का ऐसा चक्र बना रखा है
कि भ्रूण के अवधान से ही
मनुष्य अनिश्चित पथ का पथिक बना हुआ है ।
चतुर योद्धा बनने की
बृहत् इच्छा के आडबर मे
प्रवीणता को अपना सबल बनाकर
अपने को सर्वाङ्गपूर्ण बनाने हेतु
मनुष्य को उद्दण्ड भी बनना पड़ता है ।
कभी-कभी सामयिक सफलता भी उसे प्राप्त होती,
कभी-कभी प्रतिकूल क्षेत्र मे भी वह चमत्कृत होता.
किन्तु कालिमा से उसका पथ भिन्न न हो पाता ।

इतिहास प्रमाणो को हथेली पर रखे
भूलोक मे पुकार-पुकार कर
मनुष्य की जीवनी के पृष्ठ पाठ कर रहा है—
सुनो !
समस्त असत्य है, निस्सार है, नश्वर है

उसकी हर वस्तु, प्रत्येक रूप असत्
सभी व्यवस्थाएं मिथ्या एवं काल्पनिक
यथार्थ तो यह कि सृष्टि का मर्म है
नश्वरता की नींव पर खड़ा है
यदि कुछ, कहीं सत्य है तो वह
आकाश का ब्रह्माक्षर प्रथम ।
ॐ—ॐ—ॐ ॥

—o—

उस ओर—

जीवनाकाश के
श्यामलकाय मेघाच्छन्न व्योम में
तरल रूप धारण किये
शीतल जल में घुल-घुल कर
अपने गीले मधुर स्पन्दन को लिये
भावोत्पादक सुगन्धि से सुवासित समीर को प्रवाहित कर
उस ओर से
इस शून्यस्थली पर
कोई अपने अधरों का रस
इस प्रकार गिराता है
कि निराशा मे आशा की सरसता आ जाती है।

हृदय-वेदना में शान्ति का अंकुर उगता है—
किन्तु
सांसारिक उलझन की ओर ध्यान जाते ही
भावविह्वलता सारे आशान्वित सबलों को
नीरस बना जाती।
सुख-स्वप्न विस्मृति की गोद में पुनः सो जाता।
आशाएँ फिर नैराश्य की ओर चल पड़ती

सामान्य भूल वह भी अदूरदर्शिता के कारण
मानुषी वातावरण में इतनी उत्तेजना भर देती
कि अपरिमित असमंजस में पड़कर
मनुष्य
मायारूपी चक्र से चकाचौंध हो
नैसर्गिक शान्ति को तो खो ही बैठता है।
आशाओं का प्रकाश अनुभव करता भी है तो
नैराश्य के अन्तरतम प्रदेश में
जिसे अपनाने को
पागल की भाँति आगे बढ़ जाता है!

प्रतिद्वन्द्विता में व्यस्त मनुष्य
क्षण-क्षण में कुछ का कुछ सोचता हुआ
जिज्ञासा की चेतना में—भावावेश में
अपने को शून्य में विलीन पाता,
उसीमें उन्मादकता का सृजन करता,
और उपेक्षाओं की शरण में विस्मय का आवाहन करता हुआ
भावुक बनने का प्रयत्न करता है
मादकता सुन्दर रूप धारण कर लेती है
जीवन में आभा का विकास होने लगता है

समय अनुकूल दृष्टिगोचर होता है
जीवन भावनायुक्त ज्ञात होता है
मस्तिष्क मे शान्ति की स्थापना होती है।
भूल के भयावह परिणामो से पृथक् होकर
फिर वह अनन्त की ओर बढता है
और बढ़ता ही जाता है जब तक
उसे वह लक्ष्य-स्तर प्राप्त नही हो जाता
जिसकी परिभाषा सासारिको के निकट अप्राप्य है
इसीको हम 'उस ओर' से सकेत करते है।

—o—

क्यों नहीं मृत्यु हो—

सारहीन
इस भौतिक जगत् के सासारिको को
[illegible] प्रणाली मे जब उथल-पुथल मच रही थी
सभी विचित्र असमजस मे निरन्तर
थाह लेने की चेष्टा कर रहे थे
कि समय ने अपना रूप बदला।

वैभव
अपने भिन्न-भिन्न शृगार एव आभूषण मे
अप्रत्यक्ष रूप धारण किये
प्राणियों के प्रत्याशित पदार्थो की प्राप्ति मे

अपरिमित बाधाएँ उपस्थित कर रहा था
समय से प्रभावित
व्यंग्य-हास्य का उन्माद अब नहीं झलकता।

शीतलकाय चन्द्र अपने में
अतीत से ही अचेतन किन्तु उज्ज्वलता-प्रसादक गुणों से
उमंग की ज्योत्स्ना से
और शान्ति की लावण्यता से ओतप्रोत
अमृत के आकांक्षी को कभी विष भी देता है।
प्रेमी को प्रकाश और विरागी को चन्द्रिमा
चकोर को रश्मिराशि एवं चातकी को दावानल
कहाँ सुहाते हैं!

माला से बाहर अमृत भी तो विष ही है।
आज कितने व्यथित राग अलापनेवाले
तरंगित वैभव में किल्लोल करते दिखायी पड़ते हैं।
समय के चक्रव्यूह में अपने उन्मादित ऐश्वर्य को
जिन पर उन्हें गर्व था
भुला बैठे हैं वे और चिंतन की चिता पर
यह सोच कर ही बैठे हैं
कि विधाता के विधान का ईंधन बनकर ही रहेंगे।
कितने ही मृतप्राय हो चुके!
कितने उस विधान के व्यंग्य-हास्य बन गये होंगे!
क्यों?

इसलिए कि सृष्टि के आरंभ से आज तक
ऐतिहासिक उदाहरणों में

ऐसी उलझन की
घड़ियाँ
कभी नहीं मिलीं।
हर ओर से
हर प्रकार से अतृप्त पिपासा
संभव है
मृत्यु ही सुखद प्रतीत हो।

व्यर्थ का प्रयास—

जीवन के
उत्थान एव पतन में
जितना मनुष्य का हाथ नही रहता
उतना विधाता के विधान द्वारा
भाग्य-निर्माण मे रहता है ।
मनुष्य ज्ञान-ग्राही है
इसे भी मनुष्य ने ही समझा ।
यही कारण है कि वह अज्ञानता के महाजाल म
अपने को सर्वदा पाता है ।
इसी उधेडबुन मे वह सदा पडा भी रहता है ।
शान्ति खोजता हुआ
अशान्त सागर की अतृप्त लहरों पर

खेलता हुआ
अपूर्ण जीवन को खो बैठता है ।
इस आशा में
कि सभव है
पुनर्जन्मोपरान्त
उसकी अतृप्त पिपासा को तृप्ति मिल जाय ।

यह विषय इतना गहरा है
कि शकाओ का समाधान उसकी मान्यता पर ही निर्भर है ।
मानिये तो सब कुछ नही तो कुछ भी नही ।
सिवा पढ़ने के देखने मे कोई तथ्य आता हो नही ।
यह वातावरण असमजस का ही केन्द्र तो ठहरा ।
इसकी विभूति सुदर किन्तु अनुभूति भयावह है ।
मनुष्य भय का आखेट बन कर ही रहता है ।
प्रकाशमुक्त अधकारपूर्ण भविष्य की गोद मे
हँसता-रोता-खेलता रहता है ।
जब उठता है उसे पथ नही मिलता
और वह अपने को निःसहाय पाता है ।

आध्यात्मिक सुखो की कल्पना मे भी
वही अवस्था पायी जाती
जोकि लौकिक शृखला की कडियाँ जोडती आयी है
अन्तर केवल भाषा प्रणाली मे है ।
ससार का रूप ही जो ठहरा ।
सुख एव शान्ति की प्यास से कौन व्यथित नही !
हाँ !
अपनी उलझनो से प्रेरित हो मनुष्य
अनेक मार्गो का अवलबन करता है ।

किन्तु उस अज्ञात को पाता भी है—
इसका निर्णय किसीने अभी तक नहीं कर पाया ।
फिर भी इसकी खोज में
व्यस्त मनुष्यो की कमी नही ।
क्या यह व्यर्थ का प्रयास नहीं ?

—o—

सुख का रूप—

लौकिक जगत् की वेश-भूषा पर
दृष्टि डालने से
ऐसा बोध होता है
कि ससार की दृष्टि मे स्रष्टा की ओर से
पारलौकिक रूप के सौदर्य-सृजन का उतना ही ध्यान है
जितना नश्वर आडबरों की बनावट का।
परिपूर्णता की पिपासा अपूर्ण रहकर भी
उस पूर्णता की ओर खिच उठती है
जिसके समीप पहुँचानेवाला मार्ग
सदा से कंटकाकीर्ण रहा है।

अथक पथिको ने उन्माद-ग्रसित प्रेमियो का रूप धारण कर
उद्भ्रान्त हो, निराकार की खोज मे
उस अनन्त की ओर पग बढ़ाया है
जिसका न ओर है न छोर।
प्रतिकूलता से तिरस्कृत होकर भी
अपने हठ की प्रेरणा से अनुप्राणित हो
वह परमार्थमार्गी
उस दिशा की ओर प्रवृत्त है
जिसके अन्तिम लक्ष्य पर भी
'न रूप है कोई न कोई राशि ही'

समुद्र-मथन द्वारा अमृत निकालने की धारणा लेकर
अमृत, विष, धन्वन्तरि एव गजराजादि अमूल्य विभूतियाँ
प्राप्त करने हेतु
अपौरुषेय जिज्ञासा, चितन एव मनन करते हुए
जो प्राणी समाधिलीन हुए
उन्हें वैसा ही फल प्राप्त हुआ।
इसी भाँति
हम केवल असमजस मे ही पड़े हुए हैं
वरन् जीवन मे जगत् की पिपासा लेकर
सासारिक प्राप्तियों की ओर
चितनशील भी है।

पुरातनकाल के दार्शनिकों ने ज्ञान-तत्त्व से
अनन्त को ही एक निराकार-केन्द्र समझ
उसे आलिगन करने का अथक प्रयास किया था।
आज हम ऐतिहासिक जगत् की पार्थिवता को ही
उसका रूप देकर अगीकृत करना चाहते है।

किन्तु वास्तविकता क्या है ?
यदि निश्चय से इसे ढूँढा जाय
तो अभिलाषाओं का शून्य प्रांगण ही
इसका केन्द्र मिलेगा
जहाँ हम अपनी अतृप्त आकांक्षाओं को
विश्राम करने का स्थान दे सकते हैं।
यह एकमात्र संतोष ही तो
सुख का रूप है ।

—o—

प्रायश्चित्त—

तुझमें
प्रतिभा-रूप-विभा, सौंदर्य, सत्य और शिव
सभी तो निहित हैं ।
मेरा सामर्थ्य कहाँ जो तेरे इन गुणों पर दृष्टिपात भी क

प्रभु !
क्या यह तेरे इच्छानुकूल भी है
कि मुझ सा कलंकित तेरी सत्ता में वास करे !
किन्तु मेरी स्वयं यह इच्छा नहीं
कि स्रष्टा की अमर कीर्त्ति स्वरूपा

सृष्टि में
कलंक का धब्बा लगाऊं।
चेष्टा करता हूँ
कि निष्पाप बनकर
तेरी आश्चर्यमयी प्रकृति-लीला की
उज्ज्वल छटाओं से
ज्योतित हो
इच्छारहित पूजा भाव प्रदर्शित करूँ
किन्तु कलंकित कार्यों का सम्पादन कर ही बैठता हूँ

उपकार हो जाता यदि
प्रायश्चित्त हेतु ही
तू मुझे अपनी शरण में बुला लेता!
मैं अपने कर्मफल को तो भूल जाता।

—०—

स्मृति या विस्मृति—

स्मृति—

तू मनुष्य में ऊषा की लाली,
संध्या का प्रकाश,
प्रभाकर की तेजस्विनी रश्मियाँ
चन्द्रमा की शीतल भाव-भंगिमा
मानवता में अतीत का इतिहास
पशुता में उपयोगिता का आदर्श सँजोती है।
तू देवी है और आसुरी शक्ति भी रखती है।
तेरे कारण करुणा मूर्त्त होती

और वैमनस्य भी उग्र बनता।
परन्तु कब !
जबकि मनुष्य अपने जीवन के प्रत्येक अंश को
स्मरण करता। मानुषिकता एवं अमानुषिकता को
सोचता। धैर्य, संयम और गाभीर्य को स्थान देता।
अपने विचार की गति निर्धारित कर
कार्यक्रम का निर्माण करता !

विस्मृति—

तू संतोष की पराकाष्ठा,
असंतोष की सर्वोच्च सीढ़ी,
विश्वास का केन्द्र,
अविश्वास की जड़
सरलता-पथ-प्रदर्शक, गर्वमूलक
जीवन का सृष्टा एवं नाशक है।
तेरी अनुकूलता – प्रतिकूलता
मानुषिकता – अमानुषिकता
सभी एक-रूप है !
तेरी नीति आश्चर्यजनक है !
मनुष्य-जीवन सफल एवं असफल बनने की
तू कुञ्जी है !
परन्तु कब !
जबकि मनुष्य स्वकीय कर्म
तथा आप-बीती विपदा,
चैन-सुख पर
हर प्रकार से
हार्दिक नीति द्वारा विचारता हुआ मनन करे !

हे स्मृति एवं विस्मृति—

तू दोनों ही एक अभिशाप
और सर्वश्रेष्ठ अभिलाषा की प्राप्ति का हेतु भी।
प्रत्येक का रूप भयंकर
जिसमें ताप है
तो शीतलता भी!

—o—

वर्त्तमान दशा---

सारी पृथ्वी
सूर्य की प्रखर किरणो से दग्ध हो रही थी
कुछ देर पश्चात्
सारा व्योम श्याम बादलो से आच्छादित हो उठा।
उस आराध्यदेव ने
पीड़ीतो के प्राप्त हृदय-प्राङ्गण को
शीतल बनाने हेतु
अमृतमयी बूँदो का टपकाना आरंभ कर दिया।
सतप्त हृदय आनन्दविभोर हो उठे।
आनन्द की पराकाष्ठा जा पहुँची।

स्वाती-विन्दु पानेवाले चातको की
प्रसन्नता भी लज्जित हो गयी ।

परन्तु आह !
भौतिक जगत् की अकथ पीडाएँ कहाँ से शीतल होती।
दरिद्रनारायण का प्रकोप जो ठहरा ।

हाय विधाता !
तुम इतने क्यों रूठ गये हो !
क्या पीडितों की आत्मा कलपती ही रहेगी !

सभी देश संसार की चक्रगति को पहचानते हुए
अपने-अपने पथ निर्धारित कर रहे है

परन्तु भारत केवल एक टक आँखें पसारे
देख ही रहा है ।
यह नर-हत्या, लूट, लज्जाहरण ! हा !

—०—